

साम्प्रदायिकता, संवाद  
और भीष्म साहनी का  
साहित्य  
पी. रवि

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग  
श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,  
कालटी (केरल)

‘धर्म तो मनुष्य को बेहतर इन्सान बनाने, उसके मानवीय गुणों का विकास करने, उसे सभ्य और संस्कृत बनाने की प्रेरणा देता है, दृष्टि की विशालता देता है इन्सानों को जोड़ने की, उसे दूसरों के खून का प्यासा बनाने की प्रेरणा कहाँ देता है?’ (भीष्म साहनी—आज के अतीत, पृ. 292)

‘तमस’ के रचनाकाल में भी धर्म अपने-आप में खतरनाक नहीं कहते, भीष्म साहनी धर्म को गुनाहकार नहीं मानते थे। साथ-ही-साथ धर्म के संस्थागत रूप एवं रोमांटिक रूप का विरोध भी करते थे। स्पष्ट है कि वे असली धर्म और आचार एवं अनुष्ठानों पर आधारित धर्म के विभिन्न रूपों का एतराज करते थे। पाकिस्तान (रावल-पिंडी) में जन्मे साहनी जी धर्म को राष्ट्रीयता एवं संस्कृति का आधार मानती राजनीति से बखूबी परिचित हैं। उनके लिए वह अनुभूत सच्चाई है, कही-सुनी बातें नहीं हैं। शायद उन्हें सबसे अधिक परेशान करने वाली समस्या भी साम्प्रदायिकता ही है। इसलिए उनकी अधिकांश रचनाएँ इसका विरोध करती हैं इसके खिलाफ प्रतिरोध खड़ा करती हैं।

साम्प्रदायिकता वर्तमान गम्भीर समस्याओं में एक है। इसका एक लम्बा इतिहास भी है। उपनिवेशी सत्ता ने भारत

के स्वतन्त्रता आन्दोलन को नेस्तनाबूद करने के लिए धर्म के आधार पर पहले भारतीय समाज एवं राजनीति को और बाद में भारत को बाँटने का कार्य किया। सत्ता हासिल करने के लिए और उक्त सत्ता को बनाये रखने के लिए वर्तमान स्वार्थी एवं निरंकुश राजनीति भी धर्म को राजनीति में घुलाने का कार्य करती आ रही है। बहुमत पर आधारित लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली में जनादेश प्राप्त करने के लिए राजनीतिक के पार्टियाँ अनैतिक एवं अमर्यादित तरीके अपना रही हैं। इस साम्प्रदायिक राजनीति केन्द्र में न धर्म है और न उसके पीछे कोई आध्यात्मिक पिपासा है। धर्म में अन्तर्लान करुणा, नैतिकता और मानवता की जगह साम्प्रदायिकता में क्रूरता एवं अनैतिकता है। इस तरह देखा जाये तो साम्प्रदायिकता निःसन्देह एक राजनीतिक प्रक्रिया है। वास्तव में, साम्प्रदायिकता राजनीतिक मकसद को सामने रखकर धर्म का दोहन है।

साम्प्रदायिकता का मुख्य हथियार 'अन्य' (Other) की सृष्टि एवं प्रतिष्ठा है। 'अन्य' की उपस्थिति मनुष्य को हमेशा सावधान रहने को मजबूर करती है। इस तत्त्व का उपयोग योजनाबद्ध तरीके से साम्प्रदायिक शक्तियाँ करती आ रही हैं। सन्देह, अनुमान, अफवाहों तथा झूठ की आड़ में अन्य का पालन-पोषण होता है और उक्त 'अन्य' की ताकत, भीषणता, नृशंसता एवं आतंक को दिखाकर साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपने-अपने समुदाय को कट्टर एवं अनुदार बना देती है, उसकी सोच को कुन्द करती हैं, उसकी दृष्टि एवं प्रवृत्ति को संकीर्ण बना देती हैं। अपने समुदाय के चारों ओर वे दीवारें खड़ा करती हैं, ताकि बाहर के प्रकाश, हवा व स्वस्थ एवं वैज्ञानिक चिन्तन भीतर न आयें। भीतर अन्धकार की कैद में पड़े लोग बाहर के प्रकाश से न जाग जायें, इसी में साम्प्रदायिक शक्तियों की विजय होती है। धर्म खतरे में है, मजहब खतरे में है मन्दिर/मस्जिद व खुद भगवान खतरे में है और इस तरह अपना अस्तित्व ही खतरे में है—का प्रचार-प्रसार करती रहती हैं। इसी के समानान्तर धर्म की जगह धर्माचार हड़प लेते हैं। इससे आगे बढ़कर आज साम्प्रदायिक शक्तियाँ राष्ट्र के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक धरोहर को भी हड़पने लगी हैं। 2 अक्टूबर, 2002 में गांधी पर सुदर्शन का भाषण, नारायण गुरु पर पी. परमेश्वरन की पुस्तक आदि इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। गांधी, नारायण गुरु आदि के धर्मेतर मानवीय मूल्यों के स्थान पर वे अपनी बातें ठूँसने का प्रयत्न करती हैं। सफदर हशमी की हत्या से लेकर दाबोलकर, पनसारे, कलबुर्गी की हत्याएँ भी इस सन्दर्भ में गौर करने की बातें हैं। साम्प्रदायिक फासीवाद राजनीतिक क्षेत्र पर ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र पर भी हमला कर रहा है।

मतलब यह है कि साम्प्रदायिकता की विचारधारा की पहचानकर एक साम्प्रदायिकता विरोधी वैचारिकी को विकसित करना है। इसके लिए इतिहास एवं परम्परा यानी सन्तों-सूफियों की भाषा एवं संस्कृति से ऊर्जा ग्रहण कर सकते हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता की वैचारिकी और उसके 'अन्य' को

मिटाने की नीति व सैद्धान्तिकी के तहत समाज को उदार बनाने का कठिन प्रयत्न हुआ था। इस सैद्धान्तिकी में संवाद, अन्तर्क्रिया, सामंजस्य एवं साझी संस्कृति की गुंजाइश रही है। समाज को उदार बनाने की आवश्यकता के बारे में किशन पटनायक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' में लिखते हैं कि "समाज को उदार बनाना साम्प्रदायिकता के विरुद्ध सबसे प्रभावी कदम है। उससे यह होगा कि प्रत्येक समाज अपने अन्दरूनी रूढ़िवाद के खिलाफ लड़ेगा, न कि दूसरों के धार्मिक समाज के खिलाफ। यह एक सकारात्मक आन्दोलन होगा।" संवाद के लिए जगह ढूँढ़ना हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की सबसे बड़ी खूबी रही। यह भी सही है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान भी हम उस 'अन्य' को मिटा नहीं सके, क्योंकि उपनिवेशी सत्ता संवाद के स्थलों को मिटा रही थी, प्रत्येक धर्म की सहायता करके, साथ ही उनके बीच दरारें पैदा करके। देश का बँटवारा एवं तत्कालीन हत्याकांड, गांधी की हत्या, सत्तर के दंगे, 1984 का सिख हत्याकांड, बाबरी मस्जिद ध्वंस, गोधरा-गुजरात हत्याकांड आदि-आदि संवाद के रास्ते बन्द करने के प्रयास ही हैं। धर्म को राष्ट्रीयता एवं संस्कृति के आधार के रूप में प्रतिष्ठित करने लगे। संस्कृति, भाषा, राष्ट्रीयता, राजनीति जैसे नियामक तत्वों के साथ धर्म को जोड़ने पर समाज अनुदार होता रहेगा। इसका जायजा भीष्म साहनी अपनी रचनाओं के द्वारा कैसे लेने का प्रयास करते थे, इसे परखने का प्रयास करना चाहता हूँ। यहाँ संवाद सिर्फ बातचीत मात्र नहीं, आदान-प्रदान के सारे प्रयास, वाद-विवाद-संवाद, यहाँ तक कि अन्तर्जातीय-अन्तःधार्मिक विवाह भी इस संवाद के दायरे में आते हैं।

'कबिरा खड़ा बाजार में', 'आलमगीर' और 'हानूश'—तीनों मध्यकालीन पृष्ठभूमि में लिखे गये नाटक हैं। 'कबिरा खड़ा बाजार में' में धर्माचारों को मानव-विरोधी कहते कबीर और उसके साथी कवित्त, सत्संग, भंडारा आदि के जरिए मनुष्य को मनुष्य के साथ जोड़ने का कार्य करते हैं। इससे सत्ता और धर्म के स्वामी परेशान होते हैं। दोनों कबीर और उसके साथियों के कार्यक्रमों को रोकने का, तहस-नहस करने का प्रयत्न करते रहते हैं। दमन, शोषण, अत्याचार, आक्रमण, धमकी तथा चापलूसी—सारे मार्ग अपनाते हैं। फिर भी साधारण जनता कबीर और उसके साथियों का साथ दे रही है। इससे परेशान मौलवी कोतवाल से कहता है कि "...उस जैसे कवित्त कहने वाले तो दो-तीन ही हैं, लेकिन गरीब लोगों, हिन्दू-मुसलमान नीच जात के सभी लोगों को ये घेर लेते हैं, वे इनकी सुनते हैं।" फासीवादी सत्ता-इब्राहिम लोदी और कोतावल-सृजनात्मकता पर प्रतिबन्ध लगाने की कोशिश हमेशा करती रहती है। कबीर और उसकी मंडली को मिटा देना सत्ता का मकसद है, ताकि जनता न जाग जाये, सच्चाई से अवगत न हो जाये। इससे वाकिफ कबीर का कथन है— "कोतवाल तो यही चाहता है कि हम चुप हो जायें, हमारी आवाज बन्द हो जायें।

पण्डे-मौलवी भी यही चाहते हैं। नहीं, रैदास जी, अब हम मिलकर अपने कवित्त गायेंगे, गली-बाजार में गायेंगे, समागम करेंगे, हम सत्संग लगायेंगे।” सत्ता शान्ति के नाम पर सांस्कृतिक-राजनीतिक कार्यक्रम पर रोक लगाना चाहती है। तब कबीर शान्ति को पोखर के पानी की बात बताकर अपना संवाद जारी रखता है। कबीर अध्यात्म, सत्संग और भक्ति में कर्म को प्रमुख स्थान देकर संवाद का एक नया जन-आयाम खोल देता है। वह सब कुछ करते वक्त अपने जुलाहे का काम करता रहता है, साथी भी करते हैं। काम को वे भक्ति, अध्यात्म और सत्संग से पृथक नहीं करते हैं। इसलिए घर से निकलते वक्त अपने-अपने काम के उपकरण लेकर निकलते हैं। भंडारा जाति और धर्म के बन्धनों को, छुआछूत की दीवारों को तोड़ देता है, सभी लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, मिलने-जुलने लगते हैं। इसमें भीष्म साहनी साम्प्रदायिकता के भेद को यों प्रस्तुत करते हैं। “...अगर मजहब की खिदमत उन्हीं लोगों तक रहती तो कोई भी मजहब आगे बढ़ नहीं पाता। मजहब के नाम पर सल्तनतें बनती हैं और सल्तनतों के साये में मजहब पनपते हैं, हाकिम की तलवार दीन की खिदमत करती है।” ‘आलमगीर’ में भीष्म साहनी मजहब के नाम पर सल्तनत पर पहुँचे औरंगजेब तथा उसकी सत्ता की राजनीति और दारा शिकोह की धर्मंतर जनवादी राजनीति के बीच का वाद-विवाद खड़ा करते हैं। भारतीय इतिहास में दारा शिकोह धर्मंतर राजनीतिक-सांस्कृतिक शख्स के रूप में प्रतिष्ठित है। दारा दीन की तौहीन करता है—का इलजाम लगाकर औरंगजेब सत्ता हासिल करता है और दारा को सत्ता के इशारे पर चलती मजहबी अदालत के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। उसका वाक्य इस प्रकार है— “उसकी किस्मत का फैसला मजहबी अदालत करेगी। ...रोशन, रियाया मजहबी अदालत के फैसले के खिलाफ आवाज नहीं उठा सकती।” दारा नैतिकता एवं ईमान को, मानव-प्रेम को श्रेष्ठ मूल्य मानता है, ऐसे दारा के पक्ष में जनता के अलावा सूफी-दरवेश भी खड़े होते हैं। लेकिन निरंकुश एवं क्रूर सत्ता मजहबी अदालत के बल पर सबको काबू में रखती है। ‘हानूश’ और ‘मुआवजे’ नाटक में भी आनुसर्गिक तौर पर भीष्म साहनी साम्प्रदायिकता को प्रश्नांकित करते हैं।

‘तमस’ भीष्म जी का बहुचर्चित उपन्यास है, जो हमें साम्प्रदायिक दंगे-फसाद, लूट, आगजनी, हत्या, बलात्कार, शरणार्थी समस्या और क्रूरता के साथ मानवता से भी साक्षात्कार कराता है। ‘फूट डालो शासन करो’ राजनीति का स्वामी उपनिवेशी शासन, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा से काँग्रेस एवं स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा मार्क्सवादी देवदत्त कैसे संवाद करते हैं, इसका चित्र भी तमस प्रस्तुत करता है। ‘तमस’ के द्वारा भीष्म जी यह भी बताना चाहते हैं कि विभाजन काल के साम्प्रदायिक दंगे-फिसाद सुनियोजित घटना क्रम, तत्कालीन वातावरण का दबाव अधिक था।

इसलिए आपसी बैर, मनमुटाव आदि जल्दी ही ठंडा होने लगे। लेकिन 1980 के बाद स्थितियाँ बदलने लगीं। अपने अन्तिम उपन्यास 'नीलू नीलिमा नीलोफर' में इस ग्राफ को वे खींचते हैं। 'तमस' में दंगे शहर में शुरू होते हैं, ग्रामीणों के बीच उसका असर नहीं था। शहर की हवा फिर गाँव में भी बहने लगी। 'तमस : संस्मरण तथा उपन्यास' में भी वे इसकी ओर संकेत करते हैं कि "गाँव में पड़ोसी पर हाथ नहीं उठाये थे। जो भी दंगे मार-काट हुए सब बाहर के लोगों द्वारा ही हुआ था, लूट में शायद अपवाद देख सकते हैं। फिर भी जान-पहचान को वे मार नहीं सकते थे। 'तमस' में बूढ़े हरनाम सिंह बन्तो दम्पति को पनाह देती राजो का परिवार इसका उदाहरण है। पनाह देते समय राजो कहती है कि "मेरा घरवाला तो अल्लाह से डरने वाला आदमी है, तुम्हें कुछ नहीं कहेगा, पर मेरा बेटा लीगी है, और उसके साथ और लोग भी हैं।" यहाँ मजहबी पति एहसान अली जोश में आकर कुछ भला-बुरा कहकर जल्दी शान्त हो जाता है। लीगी बेटा रमजान आते ही आग-बबूला होता है और शरण में आये सिख दम्पति पर वार करने की कोशिश करता है। लेकिन राजो के सख्त मानववादी व्यवहार के आगे बेटा सहम जाता है। साँझ होते ही राजो कुछ सामान के साथ सिख दम्पति को गाँव की सीमा पार करवाती है। इस तरह वह मनुष्य होने की गरिमा को सुरक्षित रखती है। 'नीलू नीलिमा नीलोफर' में साम्प्रदायिकता अपना धिनौना चेहरा दिखाने लगी, जिसका व्यौरा 'नीलू नीलिमा नीलोफर' प्रस्तुत करता है। दादी माँ उल्फत के साथ नीलिमा के प्रेम-सम्बन्ध को लेकर असहिष्णु दिखाई देती है। उस प्रेम-सम्बन्ध को तोड़ने के लिए वह सारे मार्ग अपनाती है और प्रेम-सम्बन्ध तोड़ा जाता है। इसके समान ही नीलोफर-सुधीर सम्बन्ध को लेकर सुधीर के पिता और नीलोफर के भाई आगे आते हैं। सबके पीछे हटने पर भी नीलोफर का छोटा भाई हमीद अपनी बहिन का पीछा करता है। 'तमस' में पराए धर्म के हरनाम-बन्तो को मारने को उठाये हाथ लीगी रमजान नीचे डालता है। लेकिन 'नीलू नीलिमा नीलोफर' का हमीद अपनी बहिन के पेट में पलती सन्तान को बरदाश्त नहीं करता है और उसके पति को मारने का कसम भी खाता है। वह साझी संस्कृति के वक्ता अपने बाप को क्षमा नहीं करता है। बाप से कहता है कि वालिद होने के कारण छोड़ देता हूँ। "आप मुझे क्या समझाओगे? आपने तो अपना जमीर बेच खाया है। रोज उस काफिर फकीरचन्द की अरदल में जा बैठते हो। आपसे तो बात करना हिमाकत है।" अपने धर्मान्ध बेटा हमीद के आगे माँ मनुष्यता के बल पर खड़ी होती है। माँ की आवाज इस प्रकार है— "यह घर इन्सानों का घर है, कसाइयों का घर तो नहीं है। उसने काफिर से ब्याह किया है तो क्या मैं उसे दिन-रात पीटती रहूँ? उसका बच्चा तुमने निकलवा दिया। तुम और क्या चाहते हो, मैं पूछे तो?" हमीद की कैद से बेटी को रिहा करती माँ बेटी की खुशी पर ध्यान देती है। वह

पूछती है कि “मैं माँ हूँ कि कसाइन हूँ? बड़े आये हो, करते-कराते कुछ हो नहीं, सब पर हुक्म चलाते फिरते हो। खबरदार, जो मेरे सामने मुँह खोला तो।” रमजान से हमीद तक की साम्प्रदायिकता की इस यात्रा की ओर भीष्म साहनी मेरे साक्षात्कार में यों लिखते हैं कि “अब तो आँखों में ऐसा खून उतर आया है कि स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं बख्शा जाता, उन्हें बेरहमी से भून डाला जाता है। पहले लूट-पाट और मार-काट में गुंडे और समाज-विरोधी तत्त्व आगे-आगे होते थे, अब तो भद्रलोक ही हिंसात्मक भावनाओं से उन्मुख हो रहा है।”

‘सरदारनी’ और ‘जहूरबख्शा’ विभाजन काल की सच्ची घटनाओं पर आधारित कहानियाँ हैं। ‘सरदारनी’ कहानी की सरदारनी के लिए धर्म आडम्बर नहीं, आचार भी नहीं। उसके लिए धर्म मानव-प्रेम है। हिन्दू-सिख बहुल इलाके में अकेले रहता मास्टर करमदीन साम्प्रदायिक दंगे के दौरान आतंकित होता है। उसके शरीर में बहता खून पानी में बदल जाता है। उसके पाँव बार-बार लरज जाते थे। गुरु गोविन्द सिंह की तलवार लेकर सरदारनी यह प्रमाणित करती है कि धर्म का अर्थ मनुष्य को मारना नहीं, उससे प्रेम करना है। वह अपने ही धर्म के आततायियों से कहती है कि ‘तुम्हें जान प्यारी है तो सामने से हट जाओ।’ माहौल शान्त होने पर उस साधारण गृहिणी की प्रशंसा करने को, कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए करमदीन अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ पहुँचता है। तब वही सरदारनी दरवाजे के पीछे से ‘सरदार जी घर में नहीं हैं,’ मिलना है तो उनसे मिलने को कहती है। ‘जहूरबख्शा’ का जहूरबख्शा भारत की साझी संस्कृति का पोषक एवं प्रशंसक है। शहर के लिए सुपरिचित जाने-माने लेखक जहूरबख्शा दंगे के वक्त दरवाजा खटखटाने पर पूरे भरोसे के साथ दरवाजा खोल देता है। दंगाइयों को भाई सम्बोधन करते हुए वह कहता है कि सब कुछ ले लो, मेरी किताबों-कागजातों को छोड़कर। तुलसीदास कृत ‘रामचरित मानस’ को आदर के साथ पढ़ते जहूरबख्शा की चेतना ‘म्लेच्छ! हिन्दी में लिखता है’ सुनते ही जड़ हो जाती है। फिर भी वह अपने को सँभालने का प्रयत्न करता है लेकिन उसका दिमाग हिल जाता है। इस तरह भीष्म साहनी प्रस्तुत कहानी में धर्मनिरपेक्ष संस्कृति और फासीवाद के बीच संवाद खड़ा करते हैं। ‘पाली’ एक नादान बच्चे को घर वापसी की प्रक्रियाओं से गुजारने का ब्यौरा प्रस्तुत करती है। साथ ही उसके मिथ्यात्व एवं आचारानुष्ठानों के खोखलेपन प्रस्तुत करती है। बँटवारे के समय पाकिस्तान से भागते वक्त यशपाल (पाली) माँ-बाप से छूट जाता है जिसे शकूर-जैनब दम्पति गोद लेते हैं। काफिर के बच्चे की खबर सुनते ही मौलवी दहाड़कर कहने लगा कि बच्चे की सुन्नत करो, उसे कलमा पढ़ाओ। काफिर की सन्तान को दूध देना साँप पालना है। सुन्नत होते ही काफिर की सन्तान दीन की हो जाती है और मौलवी उसे दुलारने लगा। दूसरी ओर खोजी टुकड़ी की सहायता से असली माँ-बाप के घर पहुँचता

पाली समयानुसार मुँह पर हाथ फेरने लगा। इसे देखते ही चौधरी बच्चे का मुंडन कराने तथा यज्ञोपवीत कराने का हठ करता है। मौलवी के समान चौधरी के लिए भी धर्म बाहरी आचार मात्र है। धर्म के मूल्यों से उनका कोई वास्ता नहीं है। संस्थागत धर्म के वक्ताओं के लिए धर्म का मूल्य स्वार्थ व मुनाफा मात्र है। 'अमृतसर आ गया है', 'झुटपुटा', 'नौसिखुआ', 'काँटे की चुभन', 'शोभायात्रा', 'पहला पाठ', 'यशधर्म सनातना' जैसी कहानियाँ भी दंगे, धार्मिक कट्टरता आदि को लेकर लिखी गयी कहानियाँ हैं।

भीष्म साहनी के लिए साम्प्रदायिक दंगे, वैर, लूट-पाट, आगजनी, हत्या, विस्थापन, अत्याचार, मजबूरन धर्म परिवर्तन आदि अनुभूत यथार्थ हैं। इसलिए अपने पूरे जीवन-काल में साम्प्रदायिकता उन्हें परेशान करती थी। 'तमस' उपन्यास का जनरल सिंह उनका परिचित है, जो समाज को उदार बनाने के प्रयत्न के दौरान मारा जाता है। इस तरह धर्म के आधार पर समाज को बाँटती राजनीति के खिलाफ भीष्म साहनी अपने वाक् एवं कर्म के जरिए प्रतिरोध खड़ा करने का प्रयत्न करते रहे।